

खण्ड-अ

भारतीय दर्शन : प्रमुख तत्त्व

भाग- 'क'

अर्थ, उद्देश्य, अध्ययन क्षेत्र, दर्शन एवं जीवन, धर्म, दर्शन एवं विज्ञान

जब हम 'दर्शनशास्त्र' की बात करते हैं तो हमारे मन में यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि दर्शनशास्त्र क्या है? इसकी परिभाषा और क्षेत्रादि क्या हैं। 'दर्शन' विश्व तथा जीवन को उनकी समग्रता में समझने का एक प्रयास है।^१ मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है। अतः उसके सामने यह विशाल विश्व तथा उसका अपना जीवन कुछ रहस्य या समस्याएँ उपस्थित करते हैं जिन पर चिन्तन करने के लिए वह बाध्य हो जाता है। वह चिन्तन करने लगता है कि विश्व का मूलभूत स्वरूप क्या है? इसकी उत्पत्ति कहाँ से और कैसे हुई? इसमें मानव कैसे उत्पन्न हुए, उसका इस विश्व में क्या स्थान है? आदि कुछ मूलभूत प्रश्न उसे परेशान करने लगते हैं और वह इन प्रश्नों पर सोचने के लिए बाध्य हो जाते हैं। दर्शन मनुष्य के इसीप्रकार के चिन्तन की उपज है, वह ऐसे ही प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ने का एक प्रयास है। विश्व तथा जीवन के सम्बन्ध में ऐसे ही व्यापक ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से मनुष्य दर्शनिक चिन्तन प्रारम्भ करता है। 'दर्शनशास्त्र' के लिए जो अंग्रेजी शब्द है—फिलॉसोफी (Philosophy) उसका शाब्दिक अर्थ है 'ज्ञान के प्रति प्रेम' (Love of wisdom) इससे यह स्पष्ट होता है कि दर्शन का प्रारम्भ जिज्ञासा से होता है और यह जिज्ञासा समग्र विश्व तथा जीवन से सम्बन्धित कुछ प्रश्नों के उत्तर के सम्बन्ध में होता है।

'दर्शन' शास्त्र की परिभाषा अनेक लिंगानों ने की है, जिनका वर्णन करना की जाय, सामान्यतः इसके अन्तर्गत तेक्षणशास्त्र, नीतिशास्त्र, तत्त्वमीमांसा, धर्मदर्शन, ज्ञानमीमांसा पूल्यशास्त्र आदि अनेकों विषयों का अध्ययन सम्बन्धित है। लेकिन पारम्परिक रूप में इनमें से तत्त्वमीमांसा शब्द से ही स्पष्ट है कि इस नाम के विषय के अन्तर्गत तत्त्व सम्बन्धी मीमांसा की जाती है। 'तत्त्व' से यहाँ तात्पर्य विषय के मूल में निहित उस आधारभूत सत्ता या पदार्थ से है जिसके आधार पर समस्त विषय के उद्घव विकास आदि की समुचित व्याख्या की जाती है। 'तत्त्व' से पूर्लूप्त तत्त्व के स्वरूप, उसकी संख्या आदि के सम्बन्ध में विवेचना की जाती है। अध्ययन क्षेत्र की दृष्टि से दर्शनशास्त्र का क्षेत्र बहुत ही व्यापक रहा है जिसके अन्तर्गत विषय को उसकी समग्रता एवं मौलिक स्वरूप में समझने का प्रयास किया जाता रहा है।

प्रकार है? (Philosophy) 'दर्शन' (भारतीय दर्शन) से भिन्न किस

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि 'दर्शनशास्त्र (Philosophy)' का प्रारम्भ जिग्मा से हुआ है दर्शन के स्वरूप तथा उद्गम-क्रोत के सम्बन्ध में इस प्रकार की व्याख्या सिफ पश्चात्य दर्शन के लिए उपर्युक्त मानी जाती है। भारतीय 'दर्शन' का उद्गम क्रोत और उसका स्वरूप कुछ भिन्न है। व्यावहारिक समस्या से हुआ और वह समस्या है जीवन तथा जगत् में व्याप्त असीम दुःख से छुटकारा पाना। दर्शन इन्हीं दुःखों से छुटकारा गाने होता है। इस दर्शन की सामान्य धारा को देखने से वह प्रतीति में हुआ है परन्तु इससे भारतीय दर्शन के स्वरूप में जिग्मा नहीं हो जाता कि वह दुःख से छुटकारा पाने का कोई भेद है। दर्शन का उद्गम क्रोत या लक्ष्य यहीं भिन्न अवश्य है, लेकिन स्वरूप वह भिन्न नहीं है। विषय और जीवन के स्वरूप को भारतीय दर्शन में

समझने का प्रयास सिर्फ जिग्मा की शान्ति के लिए नहीं बल्कि दुःखों से हुटकारा पाने के लिए किया जाता है। भारतीय दर्शन और पश्चात्य दर्शन में एक प्रदर्शनी में भी है। पश्चात्य दर्शन की प्रदर्शनी पुण्यातः बौद्धिक है। इसमें तर्क-वितर्क, विचार-विमर्श के द्वारा वह समझने का प्रयास किया जाता है कि विषय तथा जीवन का मौलिक स्वरूप क्या है? किन्तु भारतीय दर्शन पद्धति साक्षात्कार (Direct experience) की पद्धति है। 'Philosophy' के लिए भारत में जो 'दर्शन' शब्द का व्यवहार होता है उसी से स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन वास्तविकता के स्वरूप को खोज में साक्षात् दर्शन पर बहुत देता है, बौद्धिक छान बोन पर नहीं। लेकिन हमें इस बात का ध्यान देना होगा कि विषय को समझने की चाहे जो भी पद्धति हो (बौद्धिक ज्ञान या साक्षात् दर्शन) और उसका जो भी लक्ष्य हो (बौद्धिक सम्झौत या दुःख निवारण) इतना स्पष्ट है कि विषय और जीवन के स्वरूप को समझने के प्रयास को ही पारम्परिक रूप में भारतीय तथा पश्चात्य देने ही मानों में दर्शन माना गया है।

विषय और जीवन के स्वरूप को समझने का प्रयास जिग्मा भी अपने हांग से करता है। परन्तु जिग्मा की विशेषता यह है कि वह विषय के अलग अलग विभागों तथा मानव जीवन के अलग-अलग पहलुओं का अध्ययन कीर्ति विज्ञान, अर्थ विज्ञान, राजनीति विज्ञान आदि कई प्रकार के विज्ञान स्तरों समझने आते हैं। दर्शन की विशेषता यह है कि वह विषय तथा जीवन की उनके अलग-अलग और पहलुओं में समझने का प्रयास नहीं करता है बल्कि उनकी समग्रता में उन्हें समझना चाहता है।

दर्शन का अध्ययन क्या है?

जब हम यह कहते हैं कि दर्शन विषय को उसकी समग्रता में समझने का प्रयास करता है तो हमारे मन में यह स्वाभाविक सा प्रश्न उठते हैं कि इस विषय का मौलिक स्वरूप क्या है? इसकी उत्तरति कैसे होइ? इसका कोई लक्ष्य है या नहीं। इस प्रकार सबसे प्राथमिक तथा पहल्यापूर्ण रूप में जीव विषय दर्शन के अध्ययन क्षेत्र में आता है, उसे तत्त्व विज्ञान या

तत्त्वमीमांसा (Ontology or Metaphysics) कहते हैं। इसके अन्नांति जो मूल प्रश्न उठाया जाता है वह यह है कि विश्व की उत्पत्ति के पीछे मूलभूत तत्त्व क्या है? उसका स्वरूप क्या है? तथा उसकी संज्ञा कितनी है? इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास तत्त्व विज्ञान करता है। विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह ऐ भी बात विचारणीय है कि इसकी उत्पत्ति एकाएक हो गई है या वह एक लघु समय के विकास क्रम का परिणाम है। इस प्रकार के प्रश्नों को चर्चा तथा उत्का सम्बन्धन दर्शन के जिस सीधे में होता है, उसे विशिष्ट तौर पर विश्व विज्ञान (Cosmology) कहते हैं। विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इधर की चर्चा भी होती है। विश्व की उत्पत्ति एकाएक हुई या किसी के हाथ निर्मित या सृष्टि या नाम होने हैं और इस सृष्टिकर्ता का नाम इधर देते हैं। फिर यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है इधर का स्वरूप क्या है? विश्व के साथ उत्का सम्बन्ध क्या है इत्यादि बातों का अध्ययन विशिष्ट तौर पर ईश्वर विज्ञान (Theology) कहते हैं। एक व्यापक अर्थ में इन तीनों को यानि तत्त्व विज्ञान, विश्व विज्ञान तथा ईश्वर विज्ञान को हम तत्त्वमीमांसा (Metaphysics) के अन्नांत रख सकते हैं।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि विश्व की उत्पत्ति, उसके मूलभूत तत्त्व आदि के सम्बन्ध में हम जो भी निर्धारित करते हैं उसकी जानकारी हमें कैसे लेती है। मनुष्य उसको छन-जीवन कैसे करता है? इसलिए ज्ञान-सम्बन्धी भौतिकी का भी वह विवेचन करता है। ज्ञान कैसे संभव होता है? ज्ञान के जीव-जीवन से साधन हैं? इत्यादि प्रश्नों को विवेचना होती है उसे ज्ञानमीमांसा (Epistemology) कहते हैं। इसोप्रकार मानवजीवन का यथार्थ लक्ष्य क्या करना चाहिए। वर्षा हृष्प से गुण क्या है? जिसके पीछे मनुष्य को रहना सम्भवन्ति प्रश्न भी मनुष्य के सामने उठते हैं और उत्का उत्तर भी दर्शन है जहाँ आचारराज्य (Ethics), मूल्यशास्त्र (Axiology) आदि की संज्ञा दी जाती है।

इस प्रकार दर्शन के अध्ययन-धैर्य में तत्त्व विज्ञान (Ontology)

दर्शन तथा जीवन

आज के इस भौतिकवादी युग में जिसमें प्रत्येक वस्तु की उपर्योगिता उससे प्राप्त आर्थिक लाभ-हानि के लिए उसकी अनुपयोगिता आदि के आधार पर अनेकों आधोप उपस्थित किये जाते हैं। यह कहा जाता है कि दर्शन व्यावहारिक जीवन से बिल्कुल सम्बद्ध नहीं है। उसकी सम्बन्धादै अव्यावहारिक समस्याएँ हैं और इसलिए जीवन में उसकी कोई उपयोगिता नहीं है। यही करण है कि जीवन की जो तात्कालिक समस्याएँ हैं— गेटी, कपड़ा और मकान आदि उसके लिए दर्शन के पास कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो अलौकिक बातें करता है—ईश्वर, आत्मा, युनर्जन आदि। इन सभी बातों से जीवन का क्या मतलब है?

अब हम यहीं दोऽका तटस्थ भाव से इस पर चिन्तन करो। अरम्भ ने कहा था कि मनुष्य-जीवन के दो पहलू हैं— पशुत्व तथा विचारशीलता। इसमें दूसरा फहलू प्रधान है क्योंकि यही मनुष्य जाति का मानव वृशु-जाति से बोट करता है। अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का अधिक से अधिक सुख से हना यह तो समान रूप से पृथु तथा मनुष्य दोनों के लक्षण है। इन आवश्यकताओं को पूर्ति में दोनों के स्वास्थ्य में कोई

स्तर पर आता है। मनुष्य यदि बास्तव में मनुष्य बनकर रहना चाहता है तो वह खाने-पीने तथा रहने के सुखमय साधनों से सन्तोष भ्रात नहीं कर सकता। इसका विचारशील पक्ष उसे एक सार्थक मानव जीवन अतीत करने के लिए इन प्रश्नों पर विचार करने के लिए बाध्य करेगा कि जिस विश्व का वह सदस्य है, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, उसमें उसका क्या स्थान है, क्या कर्तव्य है आदि। जब तक इन प्रश्नों पर वह विचार नहीं कर लेता, उसे सम्पूर्ण रूप से समझ नहीं लेता, विश्व तथा जीवन के प्रति अपना एक दृष्टिकोण निश्चित नहीं कर लेता, तब तक वह एक सार्थक मानव जीवन अतीत नहीं कर सकता और इन्हीं प्रश्नों का समाधान तो दर्शन करता है।

इस प्रकार दर्शन के प्रश्न तो साक्षात् जीवन की आवश्यकताओं से आते हैं। इसलिए यह हम पर निर्भर करता है कि हम एक सार्थक मनुष्य का जीवन चाहते हैं या एक पशु का वह निर्थक जीवन जिसमें शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है। यदि हम सार्थक मनुष्य जीवन चाहते हैं तो हमें दर्शनिक बनना ही पड़ेगा, उसमें कोई चुनाव (option) का प्रश्न नहीं है। दर्शनिक चिन्तन करना, दर्शन का अध्ययन करना तो हमारा स्वभाव है। किनिधम ने अपनी पुस्तक—'Problem of Philosophy' में स्मारक शब्दों में कहा है—philosophy grows directly out of life and its needs. Everyone who lives, if he lives at all reflectively, is in some degree a philosopher".

एक दूसरी दृष्टि से यो दर्शनिक चिन्तन और अध्ययन हमारे जीवन में प्रभावकारी और उपयोगी मिठ लेते हैं। इतिहास सादी है कि संसार में जितने भी बढ़-बढ़े सामाजिक, गजनीतिक आदि परिवर्तन आए हैं उनके पीछे गहरे दर्शनिक चिन्तन का ही हाथ रहा है। दर्शन विश्व के स्वरूप की परिवर्तित कर देता है मनुष्य, समाज और विश्व के बीच सम्बन्धों की विकृत नवीन गोड़ देकर क्रान्तिकारी परिवर्तन ला देता है। कार्त गार्वन का दर्शन उसका जलन्त उदाहरण है।

अध्ययन

अध्ययन करने का प्रयास किया है। विज्ञान विश्व के विभिन्न शैओं का विभागीय अध्ययन है। प्रत्येक विज्ञान विश्वाल विश्व के अनेकों विभागों में से किसी एक को तुन लेता है और एक विशिष्ट पद्धति अपनाकर उसी का सांगोपांग अध्ययन करता है। जैसे- भौतिक विज्ञान विश्व के भौतिक क्षेत्र का (जड़ द्रव्यादि के स्वरूप का), रसायन विज्ञान रसायन क्षेत्र का, वनस्पति विज्ञान वनस्पति क्षेत्र, मनोविज्ञान मानसिक क्षेत्र का विशिष्ट अध्ययन करता है। इस प्रकार जहाँ दर्शन सम्बन्ध विश्व का सामान्य (General) अध्ययन है, वहाँ विज्ञान विश्व के किसी एक खास विभाग का विशिष्ट (Specialised) अध्ययन है।

लेकिन इससे तात्पर्य यह नहीं है कि दर्शन सारे वैज्ञानिक ज्ञान का योगफल (Sum Total) है। दर्शन विज्ञान के एकोकृत (Unified) ज्ञान प्राप्त करने के प्रयास का और आगे प्रयास (Eversion) है। सभी वैज्ञानिक ज्ञानों को मिलाकर उनमें अनिम रूप से एकता और सम्बन्ध लाने का प्रयास वह करता है। विज्ञान कुछ बातों की स्वयंसिद्ध रूप में सत्य यानकर आगे बढ़ जाता है परन्तु दर्शन कुछ भी यानकर नहीं बढ़ता। वह उन मन्यताओं का भी सूक्ष्म विवेचन करता है जिन्हें विज्ञान विना किसी सन्देह तथा विवेचन के मान लेता है। हमने देखा है कि ज्ञानमीमांसा दर्शन का एक प्रमुख विषय है जिसमें ज्ञान की सम्भावना, ज्ञान की सीमा आदि से सम्बन्धित प्रश्नों का विवेचन होता है, जब कि विज्ञान विना किसी सम्भव विवेचना के यह यानकर आगे बढ़ जाता है कि ज्ञान सम्बन्ध है। (The कहा जाता है कि विज्ञान की पूर्वान्तराएँ दर्शन की सम्बन्धाएँ हैं। (The Presuppositions of science are the problem of philosophy)

दर्शन तथा धर्म

विज्ञान की तरह धर्म का दर्शन से बहुत गहरा सम्बन्ध है। इससे पूर्व रूपने देखा कि दर्शन सम्प्रविश्व तथा जीवन से सम्बन्धित कुछ मूलभूत समस्याओं के समाधान का एक प्रयास है और कम से कम यात्रात्म दर्शन के सन्दर्भ में यह प्रयास बींदूक है तथा उसका लक्ष्य भी बींदूक या मैदानिक ही है। उसकी उत्तरीत जिज्ञासा से लेती है, जब कि भारतीय

पाग 'ख'

**तत्त्वधीमांसा, वस्तुवाद, प्रत्ययवाद, तत्त्वधीमांसा एवं ज्ञान
मीमांसा में परम्पर सम्बन्ध**

दर्शन का उत्तर्ति ज्ञात व्यावहारिक है। जीवन में व्याप्त दुःखों एवं समस्याओं से ही भारत में दर्शन तथा धर्म दोनों की उत्पत्ति होती है। यहाँ दर्शन हैं-जीवन के दुःखों से छुटकारा पाना। इतने विशाल विश्व में अपने सीमित जीवन और उसकी अनेकों व्यावहारिक समस्याओं को देखकर मनुष्य स्वाधारतः अपने समय जीवन से संबंधित कुछ मूलभूत समस्याओं से आक्रान्त हो जाता है। ये समस्याएँ हैं—‘जीवन का वास्तविक रूप क्या है? तस्का अधिष्ठाता कौन है? जीवन की कठिनाइयों में उसका कोई सहायक होगा या नहीं? क्या मृत्यु ही जीवन का अन्त है या उसके बाद भी कुछ है? इत्यादि। इन सारी समस्याओं से ग्रन्थ मानव सम्पूर्ण विश्व तथा जीवन के प्रति अपनी सरल आस्था के आधार पर एक दृष्टिकोण निर्धारित करता है, जिसे हम साधारणतः धार्मिक दृष्टिकोण कहते हैं लेकिन वस्तुतः वह आध्यात्मिक (Spiritual) होता है। इसी प्रकार की आध्यात्मिक आस्थाओं के आलोक में अपने व्यावहारिक जीवन का एक निश्चित ढंग बना लेना धर्म है। संक्षेपतः हम कह सकते हैं कि समय विश्व तथा जीवन के प्रति एक निश्चित जीवन पद्धति धर्म है (Religion is a way of life based on a special spiritual outlook with regard to the world and life as a whole).

जितने भी चक्रतित धर्म है—हिन्दू धर्म, बौद्ध, जैन, ईसाई और इस्लाम धर्म आदि—वे सभी और कुछ नहीं वृत्तिक जीवन के कुछ विशिष्ट ढंग हैं जिनके पाछे समय विश्व तथा जीवन से संबंधित कुछ निश्चित आध्यात्मिक आस्थाएँ हैं। जीवन के ढंग के अन्तर्गत आप जीवन का ढंग बात में निश्चित है कि वह एक विशिष्ट प्रकार के व्यावहारिक जीवन को देता है। हमने देखा है कि उच्चतर मानवीय मूल्य (Values) दर्शन के अध्ययन क्षेत्र में आते हैं। धर्म भी इन मूल्यों से सम्बन्ध होता है। परन्तु कहता है यहाँ धार्मिक व्याकुंठ उत्तर्ति अपने जीवन में उतारना चाहता है। धर्म का लक्ष्य सदैव व्यावहारिक है, जबकि दर्शन का प्रधानतः सेवानिक।

तत्त्वधीमांसा या सत्ताधीमांसा जब हम इस मुन्द्र दृश्यमान जात में, हेरे-पेरे मेड, कल-कल करती नदियाँ, दूर तक फैली पर्वत शृंखला, तपता सूर्य, गजते पेष आदि को देखते हैं तो हमारे मन में एक स्वाधारिक प्रश्न उठता है कि इस संसार का मूल स्वरूप क्या है? इसकी रचना कैसे हुई? इसकी कोई स्वतंत्र मत्ता है। वह पूर्णतः सत्य है या मिथ्या प्रतीति है। एक सामाज्य मनुष्य इस संसार के जीवन में प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है इन्हें मिथ्या प्रतीति कहने वाले को पागल ही समझेगा। किन्तु एक दार्शनिक जब गहराई से इन पर विचार करता है तो इनकी वास्तविकता के विषय में संदेह उत्पन्न होता है। बहुत ऐसे दार्शनिक हैं जो इस संसार को पूर्णतः या अंशतः सत्य मानते हैं। इस प्रकार दार्शनिक मुख्य तौर पर इस विषय को लेकर दो समूहों में बंटा है। प्रथम प्रकार के दार्शनिक वे हैं जो इस संसार को मिथ्या मानते हैं। उनका मानना है कि जात के पदार्थ मानव जीवन को कल्पना मात्र है या तो वे मानवीय प्रत्यय हैं जो बाह्य रूप में प्रतीत होने लगे हैं। बाह्य पदार्थों का अपना कोई अस्तित्व है ही नहीं, उनकी अपनी स्थिति किसी और रूप में है और प्रतीति किसी और रूप में और यह प्रतीत हमारी जीवन का कल्पना मात्र है। प्राचीन भारतीय दर्शन में बाह्य पदार्थों को शुद्ध प्रत्यय मानने वालों को ‘विश्वानवादी’ कहा गया है। इसे आजकल ‘प्रत्ययवादी’ भी कहते हैं। अंग्रेजी में इस प्रकार के दार्शनिकों को आइडियलिस्ट (Idealist) कहा जाता है।

दूसरे प्रकार के वे दार्शनिक हैं जो बाह्य पदार्थों को सत्य मानते हैं। गांधीन भारतीय दर्शन में इन्हें ‘बाह्यवादी’ या ‘वस्तुवादी’ कहा गया है। आजकल इसे ‘यथार्थवादी’ भी कहा जाता है। अंग्रेजी में इसे ‘रियलिस्ट’ (Realist) कहा गया है। भारतीय दर्शन में जीवांक, मीमांसा, न्याय-सैक्षिक सांख्य-योग, माध्यवेदान्त, जैन तथा बौद्ध वैभाषिक सम्प्रदाय के अनुयायी शुद्ध व्यावहारिक व्यावहारिक हैं। वे सभी यह मानते हैं कि बाह्य

पदार्थ जैसे हमें प्रतीत होते हैं वास्तव में वैसे ही हैं। बौद्ध योगाचार सम्पर्क के दर्शनिक शुद्ध विज्ञानवादी हैं। अहैतु वेतन के अनुसार बाह्य पदार्थ एक शुद्ध अखण्ड चेतन सत्ता बाह्य के उपर आधीपत है। बाह्य पदार्थों की विविधता वास्तविक नहीं है। केवल एक शुद्ध अखण्ड चेतन सत्ता ही वास्तविक है। मात्रात्मक बौद्ध के अनुसार भी बाह्य पदार्थों की विविधता प्रतीत है—वास्तविक सत्ता केवल एक ऐसी सत्ता है जिसका किसी भी प्रकार वर्णन नहीं किया जा सकता। इसे 'शून्य' कहा गया है।

हमने ऊपर इस प्रकार देखा कि संसार के गूल स्वरूप या परम तत्त्व दृश्यमान जगत् इसी रूप में सत्त्व है जैसे—यथार्थवादी या बाह्यवादी और विश्वानवादी या प्रत्ययवादी। किन्तु यह यह उत्तरोत्तर करना अपेक्षित है कि सभी दर्शनिक न तो पूरी तरह से वस्तुवादी हैं न विश्वानवादी हैं। उनमें अनेक की स्थिति इन दोनों के बीच में कही जाती है। संसार के परमतत्त्व में वर्णन किया जा सकता है।

१. वस्तुवाद, व्याख्यार्थवाद या बाह्यवाद (Realism)

अपने दृश्यमान रूप में पूर्णतः सत्य है। वह वैसा ही है जैसा हमें दिखाई पड़े रहे हैं। हमारी चेतना से उसकी सत्ता में कोई अन्तर नहीं पढ़ता। यदि यह है कि उसकी सत्ता उसी प्रकार की रहती। भारतीय दर्शन में व्याख्यार्थिक, पूर्वमीमांसा (कुमारिल तथा प्रभाकर देवन के पाठ) माल्य, मात्र वेदान्त, जैन तथा चार्क वस्तुवादी हैं। बांदों में व्याख्यार्थिक पत्र को भी वस्तुवादी माना जाता है। यथापि ये सभी पत्र वाणी समारोह सम्पादकों को महाराष्ट्र में वृषभंग करने के लिए व्याख्यार्थवादी के पास प्राप्ति है किन्तु बाह्य सत्ता तथा हमारे द्वाय द्वायक गठन के विषय में इनमें आनन्दरिक पत्रमोद है। उदाहरणार्थ त्वाय-वैपर्यिक यथा वृषभंग का संवेदन इन्द्रिय तथा मन से होता हुआ आत्मा में पृथ्वी जाता है और आत्मा उस वस्तु को उसके अप्रते रूप में भी व्याख्या करते हैं।

विश्वानवाद या प्रत्ययवाद (Subjective Idealism)

इसके पूर्व व्याख्यार्थवादियों के पतानुसार हमने देखा कि बाह्य वस्तुओं का गहन हम सीधे नहीं कर सकते, किन्तु विष्वों के माध्यम से ही करते हैं, तो इससे स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य संसार का हम सीधे अनुभव कभी नहीं कर सकते। हमें जितनी भी वस्तुओं का ज्ञान होता है वे विष्वों के अनियन्त्रित कुछ नहीं हैं। लेकिन यहाँ यह प्रश्न करना अपेक्षित है कि यह विष्व कहाँ से आये। व्याख्यार्थवादी यह कहता है कि यह विष्व बाह्य संसार की वस्तुओं से आए किन्तु इस बात के लिए व्याख्यार्थवादी के पास प्राप्ति क्या है? ये विष्व यदि सीधे ईश्वर स्वारी बुद्धि में उत्पन्न कर दे या हमारी चेतना सी इन विष्वों को उत्पन्न कर दे तो भी हमें यह इसी प्रकार अनुभूत होते रहेंगे। विज्ञानवादियों के अनुसार जिनमें भी बाह्य पदार्थ हम देखते हैं ये सब हमारी अपनी चेतना की सृष्टि है, इनका हमारी बुद्धि में उत्पन्न कर दे या हमारी चेतना ही इन विष्वों को उत्पन्न कर दे तो भी हमें यह इसी प्रकार अनुभूत होते रहेंगे।

हम देखते हैं कि बस हमारी अपनी चेतना को सृष्टि है, इनका हमारी चेतना से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है। ये हमें बाह्य जैसे प्रतीत अवश्य होती है किन्तु इनका बाह्य प्रतीत होना हमारे प्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भारतीय दर्शन में विज्ञानवाद के प्रतीक योगाचार बौद्ध है। पश्चात्य दर्शन में वर्कले इसके संशोधन करने जाते हैं।

अद्वैतवाद

जगत् की मूल प्रकृति के विषय में अद्वैतवाद भी एक पत है। ऊपर हमाने देखा कि विज्ञानवाद बाह्य पदार्थों को हमारी चेतना की सृष्टि बनाता है। और उनका बाह्य प्रतीत होना प्रम मानता है। अद्वैतवाद के अनुसार भी बाह्य पदार्थ चेतना की हो सृष्टि है किन्तु उपर्यन्तों में प्राप्त अद्वैतवाद यह मानता है कि मूल तत्त्व केवल चेतना (ब्रह्म) ही है। और उसी सम्मुखीनिति के रूप में प्राप्तिवाद जैसा है। औपनिषदिक अद्वैतवाद बाह्य पदार्थ तत्त्वाद चेतना के ही रूप है। जहाँ चार्वाक भासीक वाद चेतना की भी अचेतन मूल से उत्पन्न मानता है, वहाँ वर्कले गांधीजीक वाद के विपरीत अचेतन प्रतीत होने वाले पदार्थों को भी एक यात्मीयिक चेतना, जिसे ब्रह्म कहा गया है, से उत्पन्न मानता है। योगवाचाद ने ऊपरे अद्वैतवाद में कुछ अन्तर किया है। ऊपर के अनुसार बाह्यपदार्थ विषय रूप में रूपों प्रतीत हो रहे हैं, उसी रूप में तो प्रम है किन्तु यह अप्य हमें यूनन् में नहीं होता। ग्रह को नार्मदीम् सुता है जो चेतन है और अविद्या है। तभी जहाँ चरसुओं का प्रम इस चेतन से पर उसी प्रकार होता है। जिस प्रकार कर्म-कर्मा तस्मी में सर्व का प्रम हो जाता है अथवा सामी में चाँदी का प्रम हो जाता है। यद्य सर्व स्त्री में सर्व का प्रम हो जाता है तो वह दिखाई पड़ने वालों वन्न मार्प तो नहीं है किन्तु रस्सों अवश्य है जिसे लम उसके वास्तविक रूप में प्रह्ला नहीं कर पाते। इसी प्रकार जहाँ इम बाह्य पदार्थ देख रहे हैं वहाँ वे बाह्य पदार्थ तो नहाँ हैं। किन्तु उनके स्थान पर ब्रह्म की सत्ता है।

उपर्युक्त सभी विचारों से अलग एक विचार यात्मीयिक बौद्ध दर्शनिक नागार्जुन ने सत्तामीमांसा के अतिरिक्त प्रम तत्त्व के मूल यात्मक के सम्बन्ध में कहा है। उन्होंने एक विचार रखा कि हमारे विचारों पर पूलपूत प्रत्यय है।

जैसे द्रव्य, कार्य-कारण सिद्धान्त, आदि वे सब ताक़ीक दृष्टि से आनन्दिक विचारों से परिपूर्ण हैं। अतः प्रम सत्ता के विषय में हम कुछ भी कहें वह अन्तिमियोधी होगा। तक द्वारा उनके स्वल्प वा निपरिण असंभव है। अतः अन्तिमियोधी होगा। तक द्वारा उनके स्वल्प वा निपरिण असंभव है। पदार्थों के स्वल्प को अनिवार्यीय और यत्न ही कहा जा सकता है। यहाँ वह उत्तरोत्तर करना अपेक्षित है कि नागार्जुन ने प्रम मता को जब प्रत्यय कहा तो उसका तात्पर्य किसी के ज्ञान से नहीं था, जैसा कि कुछ प्रत्यती दर्शनिकों ने उसे माना। नागार्जुन की परमतत्त्वा भावात्मक मता ही नहीं है किन्तु उसे किसी भी प्रकार से परिभाषित करना या उसमें विशेषण जोड़ना नहीं है। नागार्जुन का यही 'शून्य' वाद में शांखग्रन्थादे ने औपनिषदिक रंग लेकर हमें अनिवार्यीय ब्रह्म के रूप में दिखलाई पड़ता है।

इस प्रकार उपर्युक्त तत्त्वों के द्वारा तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत, जगत् की मूल प्रकृति एवं स्वल्प के बारे में जाज्ञायार्थादी एवं प्रत्ययार्थादी या विज्ञानवादी दर्शनिकों के पंतव्यों की देखने के बाद निष्कर्ष के तौर पर हम कल सकते हैं कि विज्ञानवादियों के द्वारा बाह्यपदार्थों पर किए गए यात्मीय पूष्टि: युक्ति युक्त नहीं है किन्तु यह भी सत्य है कि उन्होंने बाह्य सत्ता की यथार्थता के विषय में जो सन्देह उठाये हैं उन सन्देहों का समृद्धित उत्तर देना भी कठिन है। यह सत्य है कि हमारी चेतना वाहे उसे आत्मा के रूप में माने या बुद्धि या जन के रूप में वह सीधे बाह्य वस्तुओं के सम्पर्क में नहीं आती और इस प्रकार उसका सीधा ज्ञान हमें नहीं होता। चेतना के पास इन्द्रियों के माध्यम से संवेदन ही पहुँचते हैं और इन संवेदनों का ही सीधा ज्ञान हमारी चेतना को होता है। इस विषय में आधुनिक विज्ञान हमारी सहायता करता है। यदि सम किसी पदार्थ को सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखें तो उसका स्वल्प हमें नितान्त नित्र दिखलाई पड़ने लगता है। इससे स्पष्ट है कि पदार्थों का जो रूप हमारी इन्द्रियों महण कर रही है वे उन पदार्थों के वास्तविक रूप को ग्रहण नहीं करती। अपितु हमारे आवश्यक जीवन के उपचार में आने वाले रूप को ग्रहण करती है। पदार्थों का वास्तविक रूप दृश्यमान रूप से निर्धारित है।

अभी सत्तोषप्रद उत्तर देने में समर्थ नहीं है। तत्त्वमीमांसा या मतामीमांसा के अंतर्गत सृष्टि प्रक्रिया, कार्य-ज्ञान सिद्धान्त व्यव्याख्या और मोष, इच्छा तद्वादि विभागों विचारणीय विषय पुस्तक के दूसरे खण्ड में विस्तार से ज्ञान करेंगे।

विश्वविज्ञान (Cosmology)

तत्त्वमीमांसा के अंतर्गत तत्त्वविज्ञान के साथ-साथ विश्व विज्ञान को भी समझना आवश्यक है। विश्व विज्ञान जैसा कि नाम से स्पष्ट है विश्वम् विश्व के बारे में अध्ययन किया जाता हो। यह विश्व कैसे बना? इसकी उत्पत्ति कब हुई? क्या यह विश्व जो वर्तमान रूप में दिखलाई देता है एकाएक उत्पत्ति हुई? या यह यह हजार वर्षों का क्रीमिक विकास का परिणाम है। इत्यादि बातों को विवेचना इसके अंतर्गत की जाएगी।

विश्व अपने जिस रूप में है वह कहाँ से आया, उसकी उत्पत्ति कौन हुई? यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण एवं गूढ़पूर्ण तत्त्वमीमांसाय प्रश्न है। इस प्रश्न के सम्बन्ध में दो विचार सामने आते हैं। (१) विश्व अपने जिस रूप में अभी है उसकी उत्पत्ति सृष्टि एक ही बार में किसी इच्छा ने क्या बार में किसी इच्छा ने विश्व में विद्युत तथा ऊर्ध्वांश तथा अन्य विद्युत तथा ऊर्ध्वांश तथा अपने उसी रूप में बढ़ा दी है। (२) इसके विपरीत एक दूसरा विचार कह कफल नहीं है बल्कि हजारों-लाखों वर्षों के क्रमिक विकास का फल है। इनमें पहला विचार 'सृष्टिवाद' और दूसरा विचार 'विकासवाद' के नाम से प्रचलित है।

सृष्टिवाद

सृष्टिवाद मानता है कि विश्व अपने वर्तमान रूप में जैसा है उसी रूप में उसकी सृष्टि एक ही बार में हुई है। विश्व का मृगिकर्ता इच्छा है। इच्छा सभी तरह से पूर्ण है और सर्वांगीन है। यह अन्यादि तथा अजन्मा और उसका अन्त कभी नहीं होता। कभी तिन् तरीं था और विश्व नहीं था। किसी विशेष समय में उसे विश्व की उत्पत्ति बताने की इच्छा हुई और उसने

विश्व की सृष्टि के लिए उसे कुछ करना नहीं पड़ा, इसके लिए उसकी इच्छा भी पर्याप्त था।

यहाँ एक विचारणीय प्रश्न है कि विश्व के निपाण में प्रयुक्त सामग्री का सिर्फ निमित्त कारण ही नहीं बल्कि उपादान कारण (Material cause) भी मानते हैं। पातीय दर्शनिकों में ग्रामनुज मानते हैं कि इच्छा ने अपने अन्तर ही निहित चित्त तथा अधित ग्रंथों से विश्व की सृष्टि की देसा विचार मिलता है। परन्तु इसाई धर्म मानता है कि विश्व की सृष्टि ईश्वर ने शून्य (out of nothing) से की।

ईश्वर सर्वराजितनान है तथा उसके लिए कुछ भी करना सम्भव है। पातीय दर्शन में न्याय-वैधेयिक यत भी ईश्वर को विश्व का सिर्फ निमित्त कारण ही मानता है परन्तु यह नहीं मानता कि ईश्वर ने विश्व को सृष्टि शून्य से की। इस मात्र के अनुसार जीतिक अणुओं द्वित्, काल, ज्ञन, आत्मा आदि राशत पदार्थ के रूप में उपादान कारण उपस्थित रहते हैं और इन्होंने विश्व का व्यवहार कर ईश्वर विश्व का सृष्टि करता है।

विश्व की सृष्टि के लिए उपादान चाहे जहाँ से भी आता हो परन्तु सृष्टिवाद का मानना है कि विश्व की सृष्टि ईश्वर ने को ही और एक बार में की है क्रमिक रूप में नहीं।

विकासवाद

विकासवाद के अनुसार विश्व की रचना किसी के हाथ एक ही बार में नहीं है, ऐसा नहीं पाना। इनके अनुसार विश्व का वर्तमान स्वरूप अनेकों वर्षों के क्रमिक विकास का परिणाम है। विकास का अर्थ परिवर्तन है और परिवर्तन आमतौर पर सरल से जटिल की ओर होता गया, यद्यपि कुछ विकासवादियों का यह मत भी है कि यह परिवर्तन हमेशा सरल से जटिल की ओर ही नहीं हुआ बल्कि जटिल से सरल की ओर भी हुआ है। विश्व की चारी विविधताएं एक ही बार में उत्पत्ति नहीं हुई बल्कि कालक्रम से उत्पत्ति हुई और उसका क्रमिक विकास हुआ। विकासवाद का सिद्धांत वैशानिक अनुसंधानों पर आधारित है, जो हमें जानकारी देता है कि पृथ्वी

की उत्तमता एकाएक नहीं हुई पहले केवल आग का एक जलता हुआ गोला था जो धौर-धौरी ठंडा होकर पूँछ में परिवर्तित हुआ।

विकास की यह प्रक्रिया कैसे चलती है यानि किन समान्य विधियों के द्वारा अप्रसर होती है। इस साक्षरता में प्राचील विद्वान् स्पेनर (H. Spencer) ने तीन बातें बतायी हैं, जिन्हें विकास-क्रम के तीन प्रमुख लक्षण कहा सकते हैं ये हैं - (१) संयोजन (Integration) (२) विभाजन (Differentiation) तथा (३) निर्धारण व्यवस्थापन (Determination) इन्हीं तीन प्रक्रियाओं के माध्यम से विकास क्रम चलता है। संयोजन विकास क्रम को उस प्रारंभिक स्थिति का शोतक है जहाँ पूर्णपूर्ण रूप में विकास क्रम की सारी संभावना एक साथ संयोजित होती है। काल क्रम से इस संयोजन में विपाक्षन या विप्रदर्शन प्रारम्भ होता है। एक अनेकों में दूर्लक्ष है इसीलए अनन्तर पर विकास क्रिया एकता से अनेकता की ओर अप्रसर होती हुई समझी जाती है परन्तु यह विपाक्षन या विप्रदर्शन अव्यवस्थित रूप में जैसे-जैसे विभाग नहीं होता बर्तन्त उनका व्यवस्थापन होता है और अव्यवस्थित होकर वह कुछ नवोन रूप की जन्म देता है।

इस प्रकार यदि हम त्रृष्णावाद और विकासवाद का परस्पर मूल्यांकन करें तो हम पाते हैं कि त्रृष्णावाद विषय की उत्तमता के सम्बन्ध में एक बड़ा सो सरल सिद्धान्त है। जो सामान्य व्यापक को आकर्षित करता है परन्तु इस सिद्धान्त की मान्यता तब अधिक थी जब तो या अधिकांशतः धार्मिक प्रमुखि के होते थे। जैसे-जैसे पुनर्य का बींदूक विकास होता गया और वैज्ञानिक दृष्टि से देखने की उमस की थमता बढ़ती गई, जैसे-जैसे ईश्वरवाद और मुहिमावाद की मान्यता सहेल बढ़ने लगा और विकासवाद की ओर उनका अधिक आकर्षण होने लगा। त्रृष्णावाद के सम्बन्ध में बहुत सी ऐसी बातें हैं जो उसके पाल में नहीं जाती जैसे त्रृष्णावाद इंधर की विषय का सुनिकर्ता मानता है किन्तु ईश्वर के आधार के सम्बन्ध में कोई तीसरा प्राप्ता नहीं मिलता वैदिक विवेचन के आधार पर ये प्रमाण थाल हो जाते हैं। सृष्टिवाद की मानता है कि ईश्वर ने विषय की सृष्टि शून्य से कई लोकिन वैदिक विवेचन के आधार पर यह बात समझ से फोर होकर शून्य से किसी चीज़ की उत्तमता के होगी। फिर कुछ विभाग के पर में यह प्रश्न उठता

प्रारंभीय दर्शन : मुख्य तत्त्व

है कि विषय की सृष्टि ईश्वर ने की परन्तु ईश्वर को सृष्टि किसने की। इसके जरूर में सृष्टिवादी शायद कहेंगे कि उसकी सृष्टि किसी ने नहीं की, वह अन्नादि तथा अजन्मा है, तब यह प्रश्न होगा कि तब हम विषय की ही अन्नादि तथा अजन्मा क्यों नहीं मान सकते हैं।

सृष्टिवाद की उपर्युक्त गुणियों के कारण लोग इस सिद्धान्त से विपुल होते गए और विकासवाद के प्रति आकर्षित होते गए। विभिन्न वैज्ञानिक छोड़ों में छोड़ों ने भी विकासवाद को समर्थन प्रदान किया। इन वैज्ञानिक छोड़ों में जॉर्जिन का विकास सिद्धान्त भी एक है जिसे जैविय विकास सिद्धान्त (Theory of Biological Evolution) कहा जाता है। इसकी विस्तार में वर्च फलत वह अपेक्षित नहीं है।

तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा में परस्पर सम्बन्ध

जब हम दर्शनशास्त्र की बात करते हैं तो हमके अंतर्गत तत्त्वशास्त्र, विद्याओं का अध्ययन हम करते हैं तो लोकिन तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा को लियों तत्त्वशास्त्र, तत्त्वमीमांसा, यद्दिर्शन, ज्ञानमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा को लियों का अध्ययन हम करते हैं तो लोकिन तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा आदि अनेक विद्याओं का अध्ययन हम करते हैं तो ये दोनों एक दूसरे जा लंक दोनों के परस्पर सम्बन्ध की बात है तो ये दोनों एक दूसरे जा एक दोनों के अध्ययन विना हम दूसरे को सम्भव रूप से पूर्ण के रूप में है। एक के अध्ययन विना हम दूसरे को सम्भव नहीं सकतो। तत्त्वमीमांसा ग्रन्त से ही स्पष्ट है कि इसके अन्तर्गत तत्त्व-सम्बन्धीयमीमांसा की जाती है। 'तत्त्व' से यहाँ तत्त्वर्थ विषय के मूल में निहित उस आधारभूत सत्ता या पदार्थ से है जिसके आधार पर सम्बन्ध के उद्देश्य विकास आदि की व्याख्या की जाती है।

'ज्ञानमीमांसा' से तात्पर है जिसके अन्तर्गत ज्ञान सम्बन्धीयमीमांसा या विद्याओं की जाती है। जब हम तत्त्व के सम्बन्ध में कुछ विवेचन कर लेते हैं तो सामाजिक रूप से यह प्रश्न उठता है कि तत्त्व का ज्ञान हमें कैसे होता है। सम्पूर्ण जगत् का बोध हमें ज्ञान के माध्यम से होता है तो उसके पूर्ण ज्ञानिक दृष्टि से यदि हम जगत् को समझना चाहते हैं तो उसके पूर्ण ज्ञान दृष्टि से ज्ञान के साधन ज्ञान को समझना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में तत्त्वमीमांसा

से अधिक महत्वपूर्ण ज्ञानमीमांसा है क्योंकि ज्ञानमीमांसा सी तत्त्वमीमांसा का आधार और द्वार है।

तत्त्वमीमांसीय वर्गीकरण

एकत्ववाद (Monism)

एक तत्त्वाद अनोकत्वाद का विरोधी सिद्धान्त है। इसके अनुभाव पूर्ण तत्त्व की संख्या अनेक गहरी बल्कि एक है। स्वल्प में वह किसी प्रकार का हो सकता है। जड़ इव स्वल्प कम, चेतनास्वरूप का अथला द्वेरा ही तटस्थ एक ही मौतिक तत्त्व विष के अनेकों पौत्रक तथा मानसिक प्रदायक के रूप में प्रकट होता है। सारी विविधता वा तो उस एक तत्त्व की ही अधिकारित है या प्रतीति। इसलिए विविधता के आधार में एक मौतिक एकता है। विविध तत्त्वों एवं व्यायों को एक दूसरे से विल्जुल अलग और खतंत्र नहीं माना जा सकता।

Institut für

अनेकत्वाद के समर्थन में हमारा साधारण अनुभव भी प्रयाण है लेकिन साधारण अनुभव सत्य का ज्ञान देने के लिए सदैव एक तर्कसंगत प्रलय सुरक्षित ही अनेकता और विविधता के अन्दर ही अन्तर्भूत एक एकता वृष्टिगत होती है। विश्व की विविधता में अनन्तिहित इस एकता को सम अपहेलना नहीं कर सकती। विश्व में जु़ुख नियम है, जबकि एक सामाजिक और अवस्था है और इसलिए विश्वान में इस पान्ति पर काम करता है कि विश्व में अनेकों तत्त्व होते हुए भी उनके अन्दर एकता विद्यमान है। पाद्धत्य दार्शनिक वर्गीयों ने अपने सूजनात्मक विकास (Creative evolution) के सिद्धान्त में विश्व की विविधता के साथ-साथ उसको अनन्तिहित एकता को बाराछ्या को भी अपना लक्ष्य बनाया और उसी लक्ष्य से प्रीति होकर विकास क्रिया के पूर्ण में एक ही सृजनात्मक तत्त्व जीवन शांति को स्वीकार किया।

एकत्वाद के पश्च में एक तर्क सम्बन्धों की आन्तरिकता के आधार पर भी दिया जाता है। हमने देखा है कि तार्किक विश्लेषण करने पर

द्वितीयवाद (Dualism)

जगत् की सृष्टि के मूल तत्व या उसके स्वरूप को लेकर वार्षिकों में प्रतीक्षा नहीं है। इस सम्बन्ध में दो प्रश्न उठते हैं, एक उसके स्वरूप सम्बन्धी और दूसरा उसकी संज्ञा के विषय में। मूलतत्व के स्वरूप के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त हैं - (१) भौतिकवाद और (२) अध्यात्मवाद। भौतिकवाद के अनुसार मूलतत्व का स्वरूप जड़ तत्व का स्वरूप है तथा

अध्यात्मिक क अनुसार मूलतः वरन् भेदहै। अब दोनों सम्बन्धीय

गहन अध्ययन के पश्चात् यह बात स्थृत हो जाती है कि विश्व की सृष्टि के मूलतत्त्व का स्वरूप न तो बड़ स्वरूप है और न केवल चेतनस्वरूप है इसीलए हैतवाद मूल तत्त्व के स्वरूप को हृतपूर्ण मानता है अर्थात् मानता है कि मूल तत्त्व बड़ तथा चेतन दोनों का स्वरूप है। हैतवाद के अनुसार मूलतत्त्व की मरुती में ही हृत है। बड़ तथा चेतन दोनों ही भौलिक हैं जोकिसी को किसी में बदलने या किसी से किसी को उत्तराय मानने का कोई प्रश्न ठहरी रहता। इस अवधारणा के आधार पर हैतवाद के कई धैर लेने सकते हैं -

(१) पूल तत्व के स्वरूप में ही हो यानि वह जड़ तथा चेतन के स्वरूप का हो परन्तु सञ्चालक दृष्टि से वह एक ही हो।
 (२) पूल तत्व के स्वरूप में ही हो और उसकी संख्या भी यो हो।
 (३) स्वरूप की दृष्टि से पूल तत्व जड़ तथा चेतन दोनों हो।

सिद्धान्त विशेषज्ञता है, इस नहीं। हमारी दृष्टि में दूसरे प्रकार के द्वैतवाद यानि ऐसे द्वैतवाद का, जो मूल तत्त्व की संज्ञा तथा उसके स्वरूप दोनों में द्वृत मानता है, स्पष्ट उदाहरण मालब दर्शन है जो प्रकृति और पुरुष दो तत्त्वों को मौलिक मानता है। इनमें से प्रकृति जड़ का परिचालक है और पुरुष चैतन्य का। दोनों ही एक दूसरे से मौलिक रूप में भिन्न हैं तथा दोनों ही मूलभूत या परमार्थ तत्त्व हैं। विश्व की उत्पत्ति दोनों के संयुक्त प्रयास का परिणाम है। विश्व की सृष्टि के लिए दोनों का परस्पर सहयोग आवश्यक है। पुरुष का सहयोग केवल इतना है कि वह प्रकृति के समाख्य उपस्थित रहता है। उसकी मात्र उपस्थिति से प्रकृति में विकास परस्पर सहयोग आवश्यक है। पुरुष का सहयोग केवल इतना है कि वह प्रकृति (Evolution) प्रारम्भ हो जाता है और पूरा विश्व क्रमिक स्तरों में उत्पन्न होती है। विकास केवल प्रकृति का ही होता है। पुरुष तो अपरिवर्तनशील है।

कुछ लोग सांख्य मत को हृतवाद के उपर्युक्त तीन खेदों में से तीसरे खेद के अन्तर्गत रखते हैं यानि उस खेद के अन्तर्गत जो यह मानता है कि पूलभूत सत्ता के स्वरूप में जो हृत है, परन्तु संज्ञातमक दृष्टि से वह अनेकों हैं उनके अनुसार सांख्य मत में यद्यपि प्रकृति एक है, पुरुष अनेक हीं परन्तु यहीं वो पूल जाते हैं कि सांख्य मौलिक सत्ता के रूप में एक हीं व्यापक पुरुष को मानता है। अनेकों आत्माएँ इसी मौलिक पुरुष के व्यावहारिक रूप हैं।

उत्तरीक तथ्यों के आधार पर यह पता चलता है कि द्वैतवाद के तीसरे भेद में तो ही बहुत स्पष्ट उदाहरण नहीं प्राप्त होते हैं जो मौलिक सत्ता के स्वरूप में तो ही यानता है परन्तु संज्ञात्मक रूप में उसे अनेकों यानता है।

हैत्यवाद के समर्थक प्रमाण है। हैत्यवाद को सबसे बड़ा समर्थन भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद की असम्भवता से मिलता है। भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद की असम्भवता जो कारण उनके द्वाय मूल तत्त्व के स्वरूप को जड़ तथा चेतन में से किसी एक के स्वरूप मान लेना ऐसी स्थिति में विचारकों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। मूल मत्ता को क्यों नहीं जड़ तथा चेतन दोनों के स्वरूप मान लिया जाया जाता है कि हैत्यवाद एक तत्त्वमीमांसात्मक सिद्धान्त के रूप में हमारे सामने आता है। हमारा साधारण अनुभव भी हैत्यवाद का समर्थन करता है। हम मनों अपने अनुभव में जड़ तथा चेतन दो प्रकार के पदार्थ पाते हैं और दोनों में जड़ ही स्पष्ट भेद पाते हैं।

समीक्षा की दृष्टि से देखें तो जड़ तथा चेतन के बीच मौतिक भेद मान लेने से विश्व की उत्पत्ति की व्याख्या नहीं हो सकती। जड़ तथा चेतन दोनों एवं दूसरे से विलकृत भिन्न हैं। अब यदि दोनों का यह भेद एवं विशेष मौतिक है तो दोनों विश्व की उत्पत्ति में सहयोग कैसे करते हैं? सांख्य इस समस्या के समाधान के लिए अन्ये तथा लोगों के परस्पर सहयोग का रूपक प्रस्तुत करते हैं और कहता है कि अन्ये के कान्ये पर बैठकर लोगों ने गत्ता बताताएँ और अपने-अपने स्वार्थ के कारण भिन्न होते हुए भी प्रकृति तथा युग्म विश्व के प्रोक्त तथा प्रकृति का स्वार्थ होता है कैवल्य या वास्तविक व्याख्या नहीं हो पाता। अन्या तथा लोगों द्वायां चेतन है इसलिए दोनों अपना-अपना स्वार्थ समझते हैं, परन्तु प्रकृति तो अचेतन है, उसे अपने स्वार्थ की चेतना कैसे होती? वह कैसे युग्म के साथ सहयोग करने के लिए प्रयत्न कर सकता है।

उपर्युक्त सारी बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि हैत्यवाद साधारण भूज्य की दृष्टि से एक सही सिद्धान्त दिखाई पड़ता है तथापि एक तत्त्वमीमांसात्मक सिद्धान्त के रूप में यह अनेकों कटिनाइयों से युक्त है जिसके कारण इसे सफल सिद्धान्त नहीं माना जा सकता।

अनेकत्ववाद (Pluralism)

अनेकत्ववाद यह तत्त्वमीमांसात्मक सिद्धान्त है जो संज्ञा की दृष्टि से

पूर्णपूर्त तत्त्व को अनेकों मानता है, स्वरूप की दृष्टि से वह कुछ भी हो सकता है – जड़ द्रव्य के स्वरूप का, या चेतन स्वरूप का या दोनों से तटरथ स्वरूप का। अनेकत्ववाद के अनुसार विश्व की अनुभूत अनेकता या विविधता मौतिक है, उसे किसी स्तर पर एक या दो में पारवर्तित नहीं किया जा सकता। यह सिद्धान्त उस एकत्ववादी सिद्धान्त के बहु यानता है कि विश्व की अनुभूत विविधता प्रतीति है। भौतिक तत्त्व तो एकता है क्योंकि पूर्णपूर्त तत्त्व एक ही है। इस एकत्ववादी सिद्धान्त के विविह्व अनेकत्ववाद मानता है कि अनेकता मौतिक है। विश्व की वस्तुएँ इन अनेकों तत्त्वों के द्वारा निर्मित हैं तथा इन तत्त्वों के अलग होने से उनका विनाश हो जाता है। याद विश्व अनेकों तत्त्वों एवं विषयों का समूह है, उनमें से किसी को किसी के अन्तर्गत अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। विश्व की वस्तुओं में यात्र जाणा सम्भव्य है जो कभी भी टूट सकता है और फिर कानप हो सकता है।

समर्थक प्रमाण

अनेकत्ववाद का सबसे महत्त्व पर्वं सर्वक समर्थन हमारा साधारण अनुभव है। सामान्य दैनिक अनुभव हमें यह बताता है कि संसार में अनेकों तत्त्व हैं और उनमें परस्पर कुछ इस प्रकार की स्पष्ट प्रियताएँ हैं कि हम उन सबों को किसी एक मौतिक सत्ता के रूप में परिवर्तित कर नहीं देख सकते। प्रत्यक्ष रूप से जो दृश्यमान जगत् है उसको अवहेलना कर यदि हम यह प्रमाणित करने में लगे तो कि मौतिक तत्त्व तो एक ही है और अनेकता मात्र प्रतीति है, तो यह स्पष्ट रूप से यह वास्तविकता की अवहेलना कर केवल रहस्यवाद में प्रवेश करने के अलावा कुछ नहीं है। अनेकत्ववाद का दूसरा बड़ा समर्थन उन विचारों से मिलता है जो सम्बन्धों को बाढ़ा गाने हैं। तथ्यों के बीच किस प्रकार के सम्बन्ध हैं? इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप योग्य मत मानता है कि सम्बन्ध आन्तरिक हुआ करते हैं तथा दूसरा मत मानता है कि सारे सम्बन्ध बाह्य हुआ करते हैं। पहले मत की आन्तरिक सम्बन्धों का सिद्धान्त (Theory of internal

relation) तथा दूसरे मत की बाह्य सम्बन्धों का सिद्धान्त (Theory of External relations) कहते हैं। पहले मत के समर्थक विशेष रूप से निरपेक्ष प्रत्ययवादी हैं तथा दूसरे के वास्तववादी। वास्तववादी ही ग्राम अनेकत्ववादी हुआ करते हैं क्योंकि उनका दृष्टिकोण भी साधारण व्यक्ति का दृष्टिकोण बाला होता है। सम्बन्धों को बाह्य पाने वाले ऐसा ग्रामते हैं जो उन पदों का अस्तित्व किसी प्रकार निर्भर करता है और न ही सम्बन्ध के द्वारा उनके स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन होता है। फलतः सम्बन्ध के दृटने से भी पदों के स्वरूप या अस्तित्व में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता। सम्बन्धों के इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व के तथ्य भी एक दूसरे से पात्र कुछ बाह्य सम्बन्धों से सम्बन्धित है इनमें कोई ऐसा आनांदिक सम्बन्ध नहीं है कि उसके दृट जाने से उनका अस्तित्व खतरे में फड़ जाता है या उनके स्वरूप में कोई परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार विश्व के सारे पदार्थ एक दूसरे से स्वतंत्र और अलग-अलग हैं।

समीक्षात्मक दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता कि अनेकत्ववाद साधारण अनुभव तथा ज्ञान की दृष्टि से तो जीवित लगता है परन्तु दर्शनिक विवेचन की कस्तौती पर बहुत समीक्षात्मक नहीं जान पड़ता।

यह सिद्धान्त मुख्यतः साधारण अनुभव को अपना समर्थक आण्डर बनाता है परन्तु साधारण अनुभव सदैव तकसीगत तत्त्वमीमांसात्मक आधार नहीं बन सकता। हमें जो कुछ साधारण अनुभव से ज्ञान प्राप्त होता है वह यथोर्थ ही है, ऐसा पाना गोक नहीं है। अनुभव हमें बहुत बार प्रम में डालता है, वह कोई असाधारण बातें नहीं है। इसलिए अनुभव में विविधता को पाकर गौलिक तत्त्व को भी विविध पान लेना जीवित नहीं है। यह सिद्धान्त कमी-कमी एकांगी तात्पत्र है। वह अनुभव की अनेकता तो देखत है और उसी आधार पर गौलिक तत्त्वों की अनेकता स्वीकार कर लेता है परन्तु उस अनेकता में निहित एकता तथा सामझस्य को नहीं देखता। जब गौलिक तत्त्व अनेक हैं और सभी समान रूप से गौलिक तथा एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं हैं, उनका अस्तित्व ज्ञान की जेतना पर निर्भर है।

इस प्रकार साधारण अनुभव के स्तर पर आकर्षक होते हुए वे दर्शनिक विवेचन के स्तर पर अनेकत्ववाद वहुत समीक्षन सिद्धान्त सिद्ध नहीं होता।

ज्ञानमीमांसीय वर्गीकरण

ज्ञानमीमांसीय प्रत्ययवाद (Idealism)

तत्त्वमीमांसा के अंतर्गत हम प्रत्ययवाद की चर्चा कर चुके हैं। यहों ज्ञानमीमांसा के आधार पर प्रत्ययवाद की बाब्जा को जाएगी एक तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त के रूप में प्रत्ययवाद। इस प्रश्न का उत्तर देता है कि गौलिक सत्ता का स्वरूप क्या है? इस संदर्भ में इसका उत्तर है कि गौलिक सत्ता का स्वरूप वह है कि ज्ञान में ज्ञान के सम्बन्ध में प्रत्ययवाद इस प्रश्न का उत्तर देता है कि ज्ञान में ज्ञान के सम्बन्ध में है कि ज्ञेय पदार्थ की स्थिति क्या होती है। और इस प्रश्न के सम्बन्ध में इसका उत्तर है कि ज्ञेय पदार्थ की स्थिति ज्ञान से स्वतंत्र नहीं बल्कि उसका अस्तित्व ज्ञान पर ही निर्भर करता है। ज्ञान से सम्बन्धित होकर ही ज्ञेय पदार्थ का अस्तित्व है, उससे अलग और स्वतंत्र रूप में नहीं। तत्त्वमीमांसांसीय प्रत्ययवाद या विशेषी सिद्धान्त है भौतिकवाद (Materialism) तोकिन ज्ञानमीमांसीय प्रत्ययवाद का विशेषी सिद्धान्त है वास्तववाद (Realism) जिसमें अनुसार ज्ञेय पदार्थ की स्थिति ज्ञान से नित्यलूप स्वतंत्र होती है। उसका आस्तित्व किसी भी प्रकार ज्ञान पर निर्भर नहीं है।

ज्ञानमीमांसीय प्रत्ययवाद के सम्बन्ध में साधारण मनुष्य को यह जात माना से पे लगता है कि जो वस्तु उसे स्पष्ट स्वतंत्र और अलग दिखाई पड़ती है, जिसे वे सर्व करते हैं ज्ञानवाद करते हैं। उसका अस्तित्व उस पर्याय तत्त्व के ज्ञान पर निर्भर करते करता है प्रत्ययवादी दर्शनिक वस्तुओं के स्वरूप का विश्लेषण कर तकनीकी दृग से वह सिद्ध कर देते कि ज्ञेय पदार्थ ज्ञान से स्वतंत्र नहीं है, उनका अस्तित्व ज्ञान की जेतना पर निर्भर है।

और ज्ञानमीमांसीय प्रत्ययवाद के बीच क्या कोई महत्व है? क्या एक को स्वीकार करने पर दूसरे को भी मानना अनिवार्य हो जाता है? क्या दोनों परस्पर निर्भर हैं? इस प्रश्न का उत्तर है कि ज्ञानमीमांसीय प्रत्ययवाद में विश्वास करने पर तत्त्वमीमांसीय प्रत्ययवाद को स्वीकार करना अनिवार्य है। परन्तु तत्त्वमीमांसीय प्रत्ययवाद को स्वीकार करने पर यह अनिवार्य नहीं है कि हम ज्ञानमीमांसीय प्रत्ययवाद को भी स्वीकार करें। इस प्रकार तत्त्वमीमांसीय प्रत्ययवाद ज्ञानमीमांसीय प्रत्ययवाद से इस अर्थ में स्वतंत्र है कि कोई व्यक्ति पहले का समर्थक होकर भी विना किसी विरोध के दूसरे का समर्थक नहीं हो सकता। इस तरह के सए उदाहरण हमें लेटो तथा आचार्य शक्तर के विचारों में मिलते हैं। दोनों ही तत्त्वमीमांसीय स्तर पर प्रत्ययवादी हैं परन्तु ज्ञानमीमांसीय स्तर पर वास्तववादी।

समर्थक प्रमाण

बल्कु के स्वल्प विश्लेषण से ही यह सह तो जाता है कि ज्ञान से स्वतंत्र उसका अस्तित्व नहीं है। कोई भी वस्तु या तत्त्व आक्षिर क्या है? यदि हम इसको विवेचना करें तो याएँगे को वह रूप, रूल, गंध, आकार आदि युग्मों के सम्मिश्रण के अलावा और कुछ नहीं है। और ये युग्म हमारे के रूप में होती है इसलिए अन्तः वस्तु एवं ज्ञान के मन के प्रत्यय के अलावा और कुछ सिद्ध नहीं होता।

प्रत्ययवाद के पश्च में एक युक्ति प्रातीय बैद्ध दर्शन का योगाचार विज्ञानवाद भी प्रस्तुत करता है। इसके अनुसार यदि बल्कुओं का अस्तित्व ज्ञान से स्वतंत्र मान लिया जाय तो फिर इनके ज्ञान की व्याख्या नहीं हो सकेंगी व्याख्या इस बात की व्याख्या नहीं हो सकेंगी कि उनका ज्ञान कैसे हो जाता है। बल्कु या तो निरवयव प्रमाण इष्ट होगी या सावयवा यदि निरवयव होगी तब उनका ग्रन्थ संभव नहीं होगा क्योंकि प्रमाण सूख्य पदार्थ है। यदि वस्तु सावयव होगा तो उसका ज्ञान हमें तब होगा जब उसके सभी अवयवों का हमें प्रत्यक्ष हो। अब ये अवयव भी या तो प्रमाण रूप होंगे या सावयव। यदि प्रमाण रूप हों तब तो उनका प्रत्यक्ष नहीं होगा

ज्ञानीका

और यदि सावयव होंगे तो फिर वही कठिनाई उपस्थित होगी जो संपूर्ण बल्कु के प्रत्यक्ष के साथ होती है। और इस प्रकार यह क्रम चलता है एवं और बल्कु के प्रत्यक्ष ज्ञान की व्याख्या नहीं हो सकेंगी। इस प्रकार ताकिक स्तर पर यही समीचान लगता है कि बल्कुओं को ज्ञान से स्वतंत्र नहीं पाना जाय। ज्ञानमीमांसीय प्रत्ययवाद का सए उदाहरण प्रश्नात्म दर्शन में वर्किले के दर्शन में तथा भारतीय दर्शन में बैद्ध दर्शन के योगाचार पात में मिलता है।

ज्ञानमीमांसीय प्रत्ययवाद को यदि हम समझा करें तो याएँगे कि यह मिद्दान दर्शनिक विवेचना के लिए ठीक है। लेकिन साधारण व्यक्ति के दीर्घकालीन विवेचना के अधार पर विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता है। जिन बल्कुओं का स्वतंत्र होता है उनका अस्तित्व हम पर या हमारी जेतना पर निर्भर है। यह साधारणतया बोधगम्य नहीं होता। हम यह कैसे समझें कि विषय में वह यह बैठे हैं वह हमारे मन का प्रत्यय है। उसका अस्तित्व हमारे मन पर निर्भर है? यही कारण है कि अनेक वास्तववादी दर्शनिकों ने बल्कुओं के उपर्युक्त मिद्दान की कट्ट आलोचना की। भारतीय दर्शन में भी ज्ञानक ने योगानार पात की कट्ट आलोचना की।

ज्ञानमीमांसीय प्रत्ययवाद बल्कु के ज्ञान पर निर्भर मानता है और ज्ञान से स्वतंत्र उसके अस्तित्व में विश्वास नहीं होता। तेकिन उस प्रकार के प्रत्ययवाद का सही विश्लेषण किया जाय। स्वयं ज्ञान का भी अस्तित्व सामाजिक विवेचन के द्वाय ज्ञान की अस्तित्व ज्ञान से स्वतंत्र है ही नहीं और प्रत्ययवाद का सही विश्लेषण किया जाय। स्वयं ज्ञान का भी अस्तित्व हो जाएगा यदि किसी वस्तु का अस्तित्व ज्ञान से स्वतंत्र है ही नहीं और प्रत्ययवाद के द्वाय ज्ञान के अस्तित्व में विश्वास खोड़ित हो जाता और किसी ने किसी जेतना ज्ञान प्रत्यय यात्र है। इस प्रकार उनके अपने ही हिन्दूतांके आधार पर प्रत्ययवादियों का स्वतंत्र ज्ञान के अस्तित्व में विश्वास खोड़ित हो जाता और जब ज्ञान ही समाप्त हो जाता तो फिर ज्ञान को सारी आधारशिला ही समाप्त हो जाती है।

इन सारे तर्कों एवं तथ्यों पर गौर करने से यह सह तो जाता है कि विवेचना करने पर ज्ञानमीमांसीय प्रत्ययवाद एक समृद्धि दर्शन सिद्ध नहीं होता।

वास्तववाद (Realism)

वास्तववाद प्रत्ययवाद का ठीक लिंगी सिद्धान्त है। इसके अनुसार जीव पदार्थ का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। उसका अस्तित्व किसी भी प्रकार अनुभवकर्ता द्वारा उनके अनुभव किए जाने आदि पर निर्भर नहीं है। जन में ज्ञान केवल वस्तु को जानता है। न तो वस्तु का सूजन करता है, न उसके स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन लाता है। जिस प्रकार अन्यकार में पड़ी वस्तु पर यदि प्रकाश डाला जाता है तो वस्तु केवल प्रकाशित हो जाती है उसके स्वरूप में किसी प्रकार परिवर्तन नहीं आता और न ऐसा ही कहा जा सकता कि प्रकाश के द्वाये वहाँ उसकी सृष्टि हो जाती है। ठीक उसी प्रकार चेतना से सम्बद्ध होकर वस्तु केवल जात (प्रकाशित) हो जाती है, उसके स्वरूप में न तो किसी प्रकार का परिवर्तन गता है और न यह कहा जा सकता है कि वस्तु की नए रूप में सृजन हुआ।

आपत्तर पर तत्त्वमीमांसा में वास्तववाद के साथी सिद्धान्त भौतिकवाद तथा अनेकवाद है। इसका कारण है कि वास्तववाद मानता है कि संसर्जिस रूप में दिखाई देता है उसी रूप में वास्तविक है और किसी भी ज्ञान से स्वतंत्र लेकर उसी रूप में बना रहता है। चूंकि सामार साधारण रूप में अनेकों भौतिक पदार्थों से या दिखाई देता है तो इसलिए अनेकवाद तथा भौतिकवाद जल्द परन्तु यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि एक वास्तववादी भौतिकवादी तथा अनेकवादी ही हो। लटो ज्ञानमीमांसा में वास्तववादी है परन्तु तत्त्वमीमांसा में प्रत्ययवादी। उसी प्रकार आचार्य शंकर तत्त्वमीमांसा में प्रत्ययवाद तथा शुद्ध एकत्रवाद के समर्पक है परन्तु ज्ञानमीमांसा में वास्तववादी है।

समर्पक प्रमाण

वास्तववाद (Realism) का सबसे बड़ा समर्पक हमारा ज्यावलीक समाज जान है। लम्ब स्पष्ट रूप से देखते हैं, अनुभव करते हैं कि वस्तुएँ स्वतंत्र रूप में हमारे संसार में हैं। लम्ब उनका व्यवहार करते हैं तथा

साधारणतया कुछ वस्तुओं की स्थायी रूप में उनके निर्दिष्ट स्थानों पर पाते हैं। कितने भी दिनों के बाद यदि कोई कहीं बाहर से आता है तो अपने पर को ठीक उसी निर्दिष्ट स्थान पर पाता है जिस स्थान पर कह उसका यह वह नहीं भी जाया था। इसका अर्थ उसे वही लगता है कि जब उसका यह वह नहीं भी जाया था, यानि जब उसे अपने पर का जन नहीं हो रहा था तो वह उसी रूप में अपने निर्दिष्ट स्थान पर बना हुआ था। ऐसी बात नहीं कि जब उसका पर उसकी चेतना का विषय नहीं बना हुआ था तो उसका अस्तित्व समाप्त हो गया था। अतः हमारा साधारण ज्ञान और साधारण अनुभव स्पष्ट रूप से यह सिद्ध करता है कि वस्तुओं का स्वतंत्र अस्तित्व है।

वास्तववाद के समर्पन में एक तथ्य यह भी है कि यदि हम ऐसा मानें कि वस्तुओं का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, वे किसी जात पर निर्भर हैं, कम से कम एक ऐसा व्यक्ति चाहिए जिसका अस्तित्व किसी भी जात से स्वतंत्र हो, अन्यथा ऐसा कहने वाला भी कोई नहीं है जो कि वस्तुओं का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इसका कारण यह है कि यदि माझे वस्तुरूप प्रत्ययमात्र हैं, यह कहने का भी अधिकारी नहीं हो जाता कि किसी भी वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार वास्तववाद को नहीं मानने का परिणाम आत्मघाती होता है।

वास्तववाद के बेद

इस बात पर ध्यापि सारे वास्तववादी एकमत है कि वस्तुओं का अस्तित्व ज्ञान से स्वतंत्र है तथा ज्ञान में वस्तु के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। तथापि ज्ञान के स्वरूप, ज्ञान में निहित तथ्य आदि को बातों को लेकर उनमें परस्पर मतभेद है और परिणामस्वरूप कई सम्प्रदाय हो जाते हैं। एक तो माधारण अनुभव के आधार पर तोक्षिय वास्तववाद तो है ही तोक्षिय वार्षिक विवेचना के आधार पर (१) प्रतिनिधित्वात्मक वास्तववादी (Representative realites) (२) नव वास्तववादी (Neo realites) तथा (३) समीक्षात्मक वास्तववादी (critical realites) हैं। प्रतिनिधित्वात्मक वास्तववाद के स्पष्ट उदाहरण पाश्चात्य विद्वान् लॉक के दर्शन में मिलता है जो मानता है कि ज्ञान में तीन पक्ष (१) ज्ञान (२) प्रतीतिपि या प्रतिमा

और (३) ज्ञेय पदार्थ। ज्ञेय पदार्थ हमारे मन में अपनी एक प्रतिलिपि उत्पन्न करती है जिसके माध्यम से हम उस वस्तु को जानते हैं। नव वास्तववाद का समर्थक जी० ई० मूर एवं रसेल आदि दार्शनिकों को माना जाता है। उस सिद्धान्त के ज्ञान में दो ही पक्ष होते हैं (१) ज्ञात (२) दोनों के बीच कोई मध्यस्थ या माध्य नहीं होता। भौतिक वस्तुएँ ही सीधे अथवा साक्षात् रूप समर्थक दार्शनिक जे० बी० प्रैट, ए० के० रॉजर्स आदि अमेरिकी विद्वान् हैं। यह सिद्धान्त मानता है कि ज्ञान में तीन पक्ष सम्मिलित होते हैं (१) ज्ञाता (२) ज्ञेय और (३) इन्द्रिय प्रदत्। साक्षात् रूप से ज्ञानकी विषय वस्तु के रूप में ज्ञान की चेतना में इन्द्रिय प्रदत्त ही उपस्थित रहता है, स्वयं वस्तु नहीं। जैसा नव वास्तववाद मानता है। इन्द्रिय प्रदत्त क्या है? इसके सम्बन्ध में समीक्षात्मक वास्वतवादियों का कहना है कि वह ज्ञेय पदार्थ का एक तार्किक प्रारूप है जो ज्ञेय पदार्थ के ज्ञाता के सामने उपस्थित होते ही एक मध्यस्थ रूप में दोनों के बीच उपस्थित होकर एक माध्यम का काम करता है और इसी माध्यम के द्वारा ज्ञाता ज्ञेय पदार्थ को जानता है।

भारतीय दर्शन में भी वास्तववाद के उदाहरण प्राप्त होते हैं जैन तथा न्याय दर्शन स्पष्ट रूप से वास्तववादी हैं। शंकर का अद्वैत वेदान्त भी अपनी ज्ञानमीमांसा में वास्तववादी हैं और योगाचार बौद्धों के प्रत्ययवाद की कटु आलोचना करते हैं।

समीक्षा

इतना तो स्पष्ट ही है कि वास्तववादी वस्तुओं की स्थिति के सम्बन्ध में आम आदमी की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है और इसीलिए बिल्कुल सुग्राह्य तथा विश्वसनीय है। प्रत्ययवाद की विचित्र बातों से यह सिद्धान्त साधारण जन को सहजता एवं सरलता प्रदान करता है और उसके अन्दर एक बार फिर से यह विश्वास उत्पन्न करता है कि संसार की वस्तुओं के सम्बन्ध में उसकी धारणा सही है। हाँलाकि इस सम्बन्ध में इसके जितने भेद हैं वे सभी त्रुटिपूर्ण हैं कोई भी कठिनाईयों से मुक्त नहीं है और इसलिए उसे भी एक सही दार्शनिक तथ्य के रूप में नहीं समझा सकता है।